

कलाकार और समाज

डॉ. ऋषिका पाण्डेय*

जिस भी कलाकार ने समाज को समझने का प्रयत्न किया और सामाजिक सदस्य होते हुए स्वयं को पहचाना, इतना ही नहीं समाज से प्रभावित होते हुए अपनी विचारधारा, अपने चित्रों के साथ निर्विघ्न संवाद स्थापित किया, समाज ने भी उस कलाकार की कला को स्वीकार किया। चाहे वह यूरोप का पिकासो हो अथवा भारत का हुसैन, दोनों की ही कला उनके सामाजिक प्रतिध्वनि है— वह भी जो प्रसन्नतादायक है और वह भी जो रुचिकर प्रतीत नहीं होता। जो रुचिकर नहीं है उस पर ये कलाकार तीव्र प्रहार करने से नहीं चूकती तो कभी प्रसन्नता की नीर में दर्शक को बहाकर भावनाओं के समन्दर में लय की अनुभूति करवा देते हैं। ऐसा हो भी क्यों नहीं। कला मात्र सौन्दर्य का उत्पाद नहीं है। वह समाज का अभिन्न अंग है जो प्रभावित भी होती है और प्रभावित भी करती है। कला एक ऐसा सामाजिक अंग है जो चिरकाल से अपनी मित्रता निभाता आ रहा है। वर्तमान सन्दर्भ में तो यह और भी प्रासंगिक है क्योंकि आज का कलाकार अभिव्यक्ति के लिए पूर्व काल से अधिक स्वतंत्र है। उस पर न तो धार्मिक संगठनों का दबाव है और न ही राजतंत्र जैसी कोई संस्था उसको निर्देशित कर रही है। परन्तु यहाँ मैं यह स्पष्ट कर दूँ कि दबाव न होने का तात्पर्य यह नहीं है कि यहाँ स्वच्छन्दता है। समाज की रचना मर्यादित है और उसके हर घटक को व्यवस्था बनाये रखने के लिए मर्यादित होना आवश्यक है। कलाकार की सामाजिक प्रतिबद्धता अनिवार्य है।

पूर्व में मैंने कहा कि आज की कला स्वतंत्र है। यहाँ प्रश्न यह उठ सकता है कि क्या पूर्व की कला परतंत्र थी? वास्तव में कला परतंत्र कभी थी ही नहीं। हाँ कुछ सीमा तक धार्मिक संगठनों व राजव्यवस्था का नियन्त्रण अवश्य था परन्तु कलाकार ने हर काल में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का चातुर्य के साथ लाभ लिया है। तत्कालीन समाज और सामाजिक ढाँचों की जो भी अनिवार्यतायें रही हों सभी में कलाकार का योगदान सकारात्मक ही रहा है। प्रयोगधर्मिता जो आज की कला का अभिन्न अंग मानी जाती है अथवा यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि आज की कला इस शब्द के चारो दिशा में ही परिभाषित की जाती है, क्या हम यह मान लें कि इसमें पूर्व के काल में अनुपस्थित थी? अवश्य ही ऐसा सोचना तत्त्वहीन होगा क्योंकि नवीन प्रयोग का धर्म हर कला में रहा है। हर काल की परिस्थितियाँ, उसके अनुरूप आवश्यकताओं और उपलब्ध संसाधन अन्य काल से भिन्न रहे हैं और इस सीमित उपलब्धता में भी असीमित अभिव्यक्ति कलाकार की सदैव से विशिष्टता बनती रही है। यदि ऐसा न होता तो क्यों धर्म के विकास में कला की आवश्यकता की अनुभूति की जाती? जब सर्वप्रथम धर्म की व्यवस्था में समाज को एमसूत्र में पिरोने की आवश्यकता की अनुभूति की गयी तो कला ने इसमें अग्रणी भूमिका का निर्वहन किया। ऐसा हो भी क्यों नहीं— कला की भाषा सार्वभौमिक है। यह ऐसी भाषा है जिसमें लिपि ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। इसीलिए कला और धर्म प्राचीन काल से ही सहगामी रहे हैं। विश्व की किसी भी सभ्यता और धार्मिक विकास का इतिहास देखें तो इनके विकास में कला के मूक और सशक्त अभिव्यक्तिगत गुण तथा कलाकार की योग्यता का प्रमाण हमें प्रागैतिहासिक काल से ही प्राप्त हो जाता है।

* गिन्नी देवी मोदी महिला महाविधलय, मोदीनगर, गाजियाबाद।

विश्रान्तिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला परा । लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला ।।

शिवसूत्र विमर्श के इस श्लोक में कहा गया है कि जिस कला में विलासिता है, वह कला नहीं बन्धन है। जो परमतत्त्व की ओर अग्रसर करती है वही वास्तव में कला कहलाने योग्य है। इस प्रकार कला को परमानन्द की प्राप्ति का माध्यम मानते हुए सर्वसाधारण को धर्म और धार्मिक व्यवस्था में एकसूत्र में पिरोने का कार्य कला ने ही तो किया है और इस प्रयास में कलाकार ने भी अनेकों प्रयोग किए होंगे जिसके उदाहरण हमें आज की पुरातात्विक अवशेषों अथवा विभिन्न मूर्तिशिल्प व चित्रों के रूप में प्राप्त होते हैं।

कहा जाता है कि मुगलकालीन कला कठोर अनुशासन में पनपी। यह कथन सत्य है परन्तु सत्य तो यह भी है कि जो उस काल का लेखक अपनी लेखनी से न कह सका वह कलाकार कह गया। तूलिका के मूक परन्तु मुखर ध्वनि का उत्कृष्ट प्रयोग इस काल के कलाकारों द्वारा किया गया वह भी बिना किसी बादशाहत के दबाव के। अतः काल कोई भी हो तथा किसी भी प्रकार के दबाव में हो कलाकार स्वतंत्र होता है। कलाकार का बनाया गया चित्र मात्र कलाकार की पूंजी नहीं होती। यदि कलाकार कहता है कि यह कृति मेरी निर्मिति है तो यहां पर 'मेरा' तात्पर्य मात्र कलाकार का 'स्व' नहीं होता। कला केवल 'स्व' की अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती। यदि ऐसा होता तो कला का अस्तित्व आदि से आज तक और आज से अनादि तक नहीं हो पाता। यहां 'मेरा' से तात्पर्य तत्कालीन समाज, परिवैशिक वैशिष्ट्य और कलाकार के साथ-साथ दर्शक का संवाद भी निहित है। हम कैसे भागीरथी को मात्र जलधारा कह सकते हैं? वह न केवल वनस्पतियों व जीवों की जीवनदायिनी है वरन् अपने साथ बहते पत्थरों को भी तराशती देवालियों में स्थापना के योग्य बना देती है। कला भी इसी जीवनदायिनी भागीरथी के सादृश्य है। कभी तो अपने आरोह अवरोह में जीवन का मार्ग प्रशस्त करती जाती है तो कभी विराट अट्टहॉस के साथ विनाश के प्रति सचेत कर देती है। परन्तु दोनों ही रूपों में वह सन्देहवाहक का कार्य करती है। कला प्रातः और तमस जीवन के दोनों ही पक्षों की अभिव्यजना है। वह वर्तमान की अभिव्यक्ति मात्र नहीं है, वह तो भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों को एक सूत्र में पिरोने का कार्य करती है। वह प्राचीन से प्रेरणा लेती है और प्रेरित वर्तमान से होती है तथा भविष्य का संकेत देती हुयी अग्रसर हो जाती है। आज जो नवीन है वह कल परम्परा की श्रेणी में रखा जायेगा और भविष्य में पुनः नवीनता का समावेश होगा। जिसदिन यह परिवर्तन चक्र रुक जायेगा, कला के साथ जीवन का अन्त हो जायेगा।

सन्दर्भ सूची

1. डॉ. नगेन्द्र, "भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका", नेशनल पब्लिशिंग हाउस-23 दरियांगज, नई दिल्ली।
2. डॉ. हरद्वारी लाल शर्मा, "कला दर्शन" साहित्य संगम, नया 100 लूकरगंज, इलाहाबाद संस्करण-1997।
3. डॉ. हरद्वारी लाल शर्मा, "सौन्दर्यशास्त्र", मानसीप्रकाशन, कैलाशपुरी, मेरठ। संस्करण-1999।
4. "कला समय समाज" सम्पादक प्रयाग शुक्ल, ललित कला अकादमी, नई दिल्ली। संस्करण 1979।